

जैन-दर्शन में मुक्ति

स्वरूप और प्रक्रिया



✽ श्री ज्ञानमुनि जो महाराज (जैनभूषण)

□

मुक्ति शब्द का अर्थ—

व्याकरणशास्त्र के मतानुसार मुक्ति शब्द मुचलृ [मुच्] धातु से बनता है—**मोचनं मुक्तिः**। अर्थात् जीव का कर्मों के आवरण से सर्वथा उन्मुक्त हो जाना, जन्म-मरण की अनादि कालीन परम्परा से बिल्कुल छुटकारा प्राप्त कर लेना, सांसारिक दुःखों और आवागमन से पूर्णतया छूटकर अपने वास्तविक स्वरूप में रमण करना, मुक्ति है। वेदान्त की भाषा में आत्मा का ब्रह्म में लीन हो जाना मुक्ति है। कोषकारों के मत में मुक्ति शब्द के “मोक्ष, जन्ममरण से छुटकारा मिलना, आजादी, स्वतन्त्रता” आदि अनेकों अर्थ उपलब्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त जिस स्थान पर मुक्त आत्माएं निवास करती हैं, उस स्थान को भी मुक्ति कहा जाता है।

जैन तथा जैनेतर अध्यात्म साहित्य में मुक्ति शब्द को लेकर अनेकों अर्थ—धारणाएं उपलब्ध होती हैं। कुछ एक उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ—

१ विवेगो मोक्षो

—आचाराङ्ग चूर्ण २७२

—वस्तुतः विवेक ही मोक्ष है।

२ सव्वारम्भ परिग्गह-णिक्खेवा, सव्वभूत समया य ।

एक्कग-मण-समाहणया, अहएत्तिओ मोक्खो ॥१॥

—बृहत्कल्पभाष्य ४५८५

—सब प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग, सब प्राणियों के प्रति समता और चित्त की एकाग्रता रूप समाधि, बस इतना ही मोक्ष है।

३ कृत्स्नकर्म क्षयो मोक्षः ।

—तत्त्वार्थ सूत्र १०।२

—सम्पूर्ण कर्मों का नाश ही मोक्ष है।

४ अज्ञान हृदय-ग्रन्थि-नाशो मोक्ष इति स्मृतः ।

—शिव गीता

—हृदय में रही हुई अज्ञान की गाँठ का नष्ट हो जाना ही मोक्ष कहा जाता है।

५ “आत्मन्येव लयो मुक्तिः वेदान्तिक मते मता ।”

—वेदान्तिक मतानुसार पर ब्रह्म स्वरूप इश्वरीय मुक्ति में लीन हो जाना मुक्ति है।

६ भोगेच्छामात्रको बन्धः तत्यागो मोक्ष उच्यते ।

—योग वाशिष्ठ ४।३।३

—भोग की इच्छामात्र बन्ध है और उसका त्याग करना मोक्ष है।

७ प्रकृति वियोगो मोक्षः

—षड्दर्शन समुच्चय ४३

—सांख्यदर्शन के मतानुसार आत्म रूप पुरुष तत्त्व से प्रकृति रूप भौतिक तत्त्व का वियुक्त हो जाना ही मोक्ष है।

८ चित्तमेव हि संसारो, रागादि-क्लेश वासितम् ।

तदेव तैविनिर्मुक्तः, भवान्त इति कथ्यते ॥१॥

—बौद्धदर्शन

—रागादि क्लेश से युक्त चित्त ही संसार है। वही यदि रागादि क्लेशों से मुक्त हो जाए तो उसे भवान्त मोक्ष कहते हैं।

६ नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तर्कवादे न च तत्त्ववादे ।

पक्ष सेवाश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ॥१॥

—हरिभद्र सूरि

—मुक्ति न तो दिगम्बरत्व में है, न श्वेताम्बरत्व में, न तर्कवाद में, न तत्त्ववाद में तथा न ही किसी एक पक्ष का सेवन करने में है; वास्तव में कषायों से मुक्त होना ही मुक्ति है ।

१० कामानां हृदये वासः, संसार इति कीर्तितः ।

तेषां सर्वात्मना नाशो, मोक्ष उक्तो मनीषिभिः ॥१॥

—हृदय में काम-कामना का होना ही संसार है, इनका समूल नाश मोक्ष होता है । ऐसा मनीषियों ने कहा है ।

मुक्ति के पर्यायवाचक शब्द

अध्यात्म साहित्य में मुक्ति के अनेकों पर्याय-वाचक शब्द उपलब्ध होते हैं । जैनागम श्री औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में मुक्ति के १२ नाम लिखे हैं । जैसे १ ईषत्, २ ईषत प्रागभारा, ३ तनू, ४ तनू तनू, ५ सिद्धि, ६ सिद्धालय, ७ मुक्ति, ८ मुक्तालय, ९ लोकाग्र, १० लोकाग्रस्तूपिका ११ लोकाग्र प्रतिबोधना और १२ सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्व-सुखवाहा ।

मोक्ष प्राप्ति का क्रम

जैनधर्म की मान्यतानुसार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की निर्मल, निर्दोष आराधना द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ जब यह जीव तेरहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो उस समय उसके ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चारों घातीकर्म क्षीण हो जाते हैं । ज्ञानावरणीय कर्म आत्मा के ज्ञान गुण का विनाश करता है, दर्शनावरणीय कर्म दर्शन सामान्य का, मोहनीयकर्म विवेक का और अन्तराय कर्म दानादि लब्धियों का विघात करता है, इसलिए ज्ञानावरणीय आदि चारों घातीकर्म कहलाते हैं । जब जीव तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश करता है तो सर्वप्रथम मोहनीय कर्म क्षीण होता है । मोहनीय कर्म के क्षीण होते ही ज्ञानावरणीय आदि तीनों घातीकर्म तत्काल समाप्त हो जाते हैं । इन घातीकर्मों का आत्यन्तिकक्षय हो जाने पर आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्तवीर्य की महाज्योति जगमगा उठती है, तेरहवें गुणस्थान में तो मन, वचन और काया रूप योगों की प्रवृत्ति चलती रहती है, परन्तु जब जीव तेरहवें गुणस्थान को छोड़कर चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होता है तो उसकी यह यौगिक प्रवृत्ति भी रुक जाती है । मन का सोचना, वचन का बोलना और काया का हिलना-चलना सब व्यापार समाप्त हो जाता है । चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होते ही जीव के अवशिष्ट वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य ये चार अघातिकर्म भी समाप्त हो जाते हैं, उस समय आत्मा सर्वथा निष्कर्म हो जाता है । तदनन्तर निष्कर्म आत्मप्रदेश शरीर को छोड़ जाते हैं । जैन दृष्टि से ज्ञानावरणीय आदि कर्म के कारण आत्म-प्रदेश शरीर में आबद्ध रहते हैं, परन्तु जब कर्मों का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है, तब ये तत्काल शरीर को छोड़ देते हैं ।

मुक्त जीव के आत्मप्रदेशों के शरीर से निकलने की भी अपनी एक स्वतन्त्र पद्धति होती है । श्री स्थानाङ्ग सूत्र की मान्यतानुसार जिस आत्मा के आत्मप्रदेश दोनों पाँवों से निकलते हैं, वह नरकगामी होता है, ऐसा जीव नरक गति में जन्म लेता है । दोनों जानुओं से जिसके आत्मप्रदेश निकलते हैं—वह जीव तिर्यञ्च गति में जाता है । वह पशु बनता है, छाती से जब आत्मप्रदेश निकलते हैं तब जीव को मनुष्य गति की प्राप्ति होती है । मस्तक से जिस जीव के आत्मप्रदेश निकलते हैं, उस जीव की उत्पत्ति देव लोक में होती है और जब जीव के आत्म प्रदेश समूचे अंगों से निकलते हैं, तब वह जीव सिद्धगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है ।

भारतीय दर्शनों में मुक्ति और मुक्ति के साधन

दर्शन शब्द के ज्ञान, चिन्तन, विश्वास आदि अनेकों अर्थ उपलब्ध होते हैं; परन्तु दर्शन शब्द का जब शास्त्र के साथ प्रयोग होता है तब इसका—“वास्तविक तत्त्व ज्ञान या तत्त्व सम्बन्धी मान्यता” यह अर्थ होता है । दोनों का सम्मिलित अर्थ होता है—जिससे तत्त्व सम्बन्धी गूढ रहस्यों का ज्ञान प्राप्त हो, उस शास्त्र को दर्शन-शास्त्र कहते हैं । दर्शन-शास्त्रों के निर्माताओं की विभिन्नता होने से दर्शन-शास्त्र भी अनेकों उपलब्ध होते हैं । दर्शन-शास्त्र की अनेकता के कारण ही मुक्ति-तत्त्व की मान्यता को लेकर अनेकों विचार उपलब्ध होते हैं । जैसे—जैनदर्शन में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, अन्तराय, आयुष्य, नाम और गोत्र इन आठ कर्मों के सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम मुक्ति



है और जैनदर्शन ने १. सम्यग्दर्शन [वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर किया गया श्रद्धान, सम्यक् विश्वास] २. सम्यग् ज्ञान [जीव और अजीव आदि नवविध तत्त्वों का यथार्थ बोध, सच्ची जानकारी] और ३. सम्यक् चरित्र [कर्मबन्ध के वास्तविक कारणों को अगवत कर लेने के अनन्तर नवीन कर्मों को रोकना और पूर्वसञ्चित कर्मों का तप के द्वारा क्षय करना] इस रत्न-त्रय को मुक्ति का साधन स्वीकार किया है।

बौद्धमत में सनातन-परम्परा का विच्छेद होना मोक्ष है और संसार को दुःखमय, क्षणिक एवं शून्यमय समझना मोक्ष का साधन है। बौद्धदर्शन के अनुसार तपस्या की कठोरता तथा विषय-भोगों की अधिकता इन दोनों से अलग रह कर मध्यम मार्ग अपनाने से शान्ति मिलती है। नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और योग इन चारों के मत में दुःख का ध्वंस—नाश हो जाना मोक्ष है, किन्तु इसके साधनों में वहाँ भिन्नता मिलती है। नैयायिक और वैशेषिक दर्शन के मत में प्रमाण और प्रेमय आदि १६ तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष का साधन है, जबकि सांख्य और योग दर्शन के मत में प्रकृति-गुण का विवेक, भेदविज्ञान मोक्ष का साधन माना गया है। मीमांसा-दर्शन के मत में वास्तविक मोक्ष माना ही नहीं है, वहाँ पर केवल यज्ञादि के द्वारा प्राप्त होने वाला स्वर्ग ही मोक्ष है तथा वेद विहित कर्म का अनुगमन और निषिद्ध कर्मों का त्याग ही उसका साधन है। वेदान्त के मत में जीवात्मा और परमात्मा की एकता का साक्षात्कार हो जाना मोक्ष है एवं अविद्या और उसके कार्य से निवृत्त होना उसका साधन है। नास्तिक दर्शन के मत में मोक्ष का विधान ही नहीं है, जब साध्य ही नहीं है, तब उसके साधन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है।

मुक्ति शाश्वत है

बन्ध तथा बन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव एवं बँधे हुए कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होने का नाम मुक्ति है। जब आत्मा संवर के द्वारा नूतन कर्मों का आगमन रोक देती है—और पूर्वसञ्चित कर्मों को तपस्या के द्वारा सर्वथा क्षीण कर डालती है तब वह कर्मजन्य सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के शरीरों से रहित होकर अग्नि से निकले धुएँ की भाँति उर्ध्वगमन करती है और लोक के अग्र भाग में जाकर सदा के लिए विराजमान हो जाती है। अलोक में जीव की गति में सहायता प्रदान करने वाले धर्मास्तिकाय नामक तत्त्व का अभाव होने से मुक्त आत्मा अलोक में नहीं जा सकती। परिणाम स्वरूप निष्कर्म आत्मा अलोकाकाश न जाकर लोक के अग्रभाग में ही अवस्थित रहती है। कुछ विचारकों का कहना है कि कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से मुक्ति की उत्पत्ति होती है, अतः मुक्ति उत्पत्तिशील माननी चाहिए। मुक्ति को उत्पत्तिशील मान लेने पर उसका विनाश अवश्यभावी है। क्योंकि जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है, उसका विनष्ट होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में मुक्ति को शाश्वत अर्थात् सदा कायम रहने वाली नहीं माना जा सकता। इस सम्बन्ध में जैनदर्शन का अपना स्वतन्त्र चिन्तन रहा है। जैनदर्शन कहता है कि उत्पत्तिशील वस्तु की विनाश-शीलता से किसी को कोई इन्कार नहीं है किन्तु मुक्ति का अपना स्वरूप मूल रूप से उत्पत्तिशील नहीं है। वस्तुतः आत्मा का नैसर्गिक और वास्तविक जो स्वरूप है, वह कभी पैदा नहीं होता, वह तो सार्वकालिक है, अतीत में था, वर्तमान में है और अनागत काल में सर्वदा अवस्थित रहेगा। केवल कर्मों के आवरण ने उसे आवृत कर रखा है, जब उस पर आए आवरण को अहिंसा, संयम और तप की परम पवित्र साधना द्वारा हटा दिया जाता है, तब वह केवल अनावृत हो जाता है। जैसे साबुन, वस्त्र को श्वेतिमा प्रदान नहीं करता। प्रत्युत उसके ऊपर आए मैल का केवल परिहार करता है। वैसे ही अहिंसा, संयम और तप की आध्यात्मिक साधना भी आत्मा को कोई नया रूप प्रदान नहीं करती, उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन और अनन्त आनन्द की उत्पत्ति नहीं करती, किन्तु आत्मा के स्वरूप पर आए आवरण को हटा कर उसे अनावृत कर देती है। आत्मा के स्वरूप का अनावृत हो जाना, जन्म-जन्मान्तर के लगे कर्ममल का आमूलचूल विनष्ट हो जाना ही आत्मा का मुक्ति को उपलब्ध करना है। अतः आत्मा के वास्तविक ज्ञान स्वरूप को उत्पत्तिशील नहीं कहा जा सकता, वह तो शाश्वत है, त्रैकालिक है, सदा अवस्थित रहने वाला है। इसके अतिरिक्त, यह भी समझ लेना चाहिए कि आत्मा का वास्तविक ज्ञानस्वरूप या मुक्तिस्वरूप सांसारिक दशा में भी आत्मा में विद्यमान रहता है, किन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह प्रच्छन्नरूप से रहता है, इस आवरण की समाप्ति के साथ ही वह प्रत्यक्ष में आ जाता है।

जैन दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि-कालीन है। जो सम्बन्ध अनादिकालीन होता है—वह सार्वकालिक सदा रहने वाला माना जाता है, ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि आत्मा अनादिकालीन कर्म-बन्धन को तोड़कर मुक्त कैसे हो सकती है? उत्तर में निवेदन है कि जैन दर्शन ने आत्मा और कर्म का अनादिकालीन जो सम्बन्ध माना है वह केवल कर्मप्रवाह की दृष्टि से ही स्वीकार किया है। जैनदर्शन किसी

एक कर्म की अपेक्षा से कर्म को अनादिकालीन स्वीकार नहीं करता। जैनदर्शन के विश्वासानुसार समय-समय पर कर्मों का बन्ध होता रहता है। आबद्ध कर्म अपने समय पर उदयोन्मुख होकर अपना फल देते हैं, तत्पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों से पृथक् हो जाते हैं, तथा कुछ कर्म तपस्या की आराधना से क्षीण हो जाते हैं। परन्तु कर्म का प्रवाह सदा चलता रहता है। जो कर्म क्षीण होते हैं उनके स्थान पर दूसरे नूतन कर्मपुद्गल आ जाते हैं। इस प्रकार कर्मों का प्रवाह चलता ही रहता है। इस कर्म-प्रवाह की दृष्टि से ही जैनदर्शन आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि मानता है। इसके साथ-साथ जैनदर्शन की यह भी मान्यता है कि जब आत्मा संवर के द्वारा नूतन कर्मों के आस्रव—आगमन को रोक देता है तथा तपस्या की आराधना से पुरातन कर्मों को विनष्ट कर डालता है तब वह धीरे-धीरे कर्मों से उन्मुक्त होकर एक दिन सर्वथा निष्कर्म बन जाती है। इस पद्धति से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि कालीन होने पर भी अध्यात्म साधना द्वारा समाप्त हो जाता है। इस सत्य को खान से निकले हुए स्वर्ण के उदाहरण द्वारा सुविधा-पूर्वक समझा जाता है। अभी विचारक जानते हैं कि स्वर्ण खान से मलयुक्त ही निकला करता है, वहाँ ऐसा नहीं होता कि स्वर्ण और माटी को मिश्रित करके किसी ने खान में रख दिया हो। माटी और स्वर्ण की यह मिश्रित दशा स्वाभाविक है, किन्तु अग्नि का सान्निध्य पाकर माटी स्वर्ण से पृथक् हो जाती है। ऐसी ही स्थिति आत्मा और कर्म की समझनी चाहिए। कर्मों का सम्बन्ध भले ही अनादिकालीन है, परन्तु तपःसाधना धीरे-धीरे इसे समाप्त कर देती है।

मुक्ति का क्षेत्र

मुक्ति आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है, जहाँ आत्मा कर्मों के मल से उन्मुक्त होकर सर्वथा अमल एवं धवल हो जाता है परन्तु उपचार में जिस स्थान पर मुक्त आत्माएँ निवास करती हैं उस स्थान को भी मुक्ति या मोक्ष कहा जाता है। जैनैतर जगत में यही मुक्ति बैकुण्ठधाम, विष्णुलोक या गोलोक के नाम से पुकारी जाती है। प्रश्न हो सकता है कि यह मुक्ति या बैकुण्ठधाम विश्व के कौन से भाग में अवस्थित है? उसकी क्षेत्रपरिधि क्या है? इस सम्बन्ध में जैनैतर दर्शन तो प्रायः मौन ही हैं, कोई सन्तोषजनक समाधान प्राप्त नहीं होता। जो दर्शन आत्मा को विभु-सर्वव्यापक मानता है, उसके मत में तो समूचा जगत ही मुक्तात्मा का क्षेत्र कहा जा सकता है। परन्तु जैनदर्शन का इस सम्बन्ध में अपना स्वतन्त्र दृष्टिकोण रहा है। जैनदर्शन की आस्था है—

अत्थि एगं ध्रुवं ठाणं, लोणगगंमि दुरारुहं ।

नत्थि जत्थ जरा-मच्छू, बाहिणो बेयणा तथा ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र २३/८१

अर्थात् लोक के अग्र भाग पर एक ऐसा दुरारोह, ध्रुव स्थान है, जहाँ पर जरा, मरण, व्याधि और वेदना नहीं है।

निष्वाणं ति अबाहं ति सिद्धी लोणगमेव य ।

खेमं सिवं अणाबाहं, जं चरंति महेसिणो ॥ —उत्तराध्ययनसूत्र २३/८३

अर्थात्—वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, लोकाग्रक्षेत्र, शिव और अनाबाध नाम से विख्यात है। इसे महर्षि लोग प्राप्त करते हैं।

जैनदर्शन ने समूचे जगत को दो भागों में विभक्त किया है १. लोकाकाश और २. अलोकाकाश। आकाश के जिस भाग में जीव और अजीव आदि तत्त्व पाए जाते हैं, वह लोकाकाश तथा जहाँ पर जीवादि द्रव्य नहीं है वह अलोकाकाश कहलाता है। लोकाकाश के अधोलोक को पाताललोक भी कहते हैं। इस लोक में मुख्य रूप से नारकी-जीव तथा भवनपति देव रहते हैं। अधोलोक से ऊपर मध्यलोक है, यह मध्यलोक मेघ पर्वत के समतल से नौ सौ योजन नीचे है और नौ सौ योजन ऊपर इस तरह कुल अठरह सौ योजनों में अवस्थित है, ठहरा हुआ है। इसमें सर्वोच्च शनैश्चर देव का विमान है, इसके विमान की ध्वजा के ऊपर ऊर्ध्व लोक का आरम्भ होता है। इस ऊर्ध्वलोक में २६ देवलोक हैं। सबसे ऊपर सर्वार्थसिद्ध नामक देवलोक है। इस देवलोक की स्तूपिका के अग्रभाग से १२ योजन की दूरी पर ईषत्-त्राग्भारा पृथिवी है। इसे सिद्धशिला कहते हैं।^१ यह सिद्धशिला ४५ लाख योजन की लम्बी और इतनी ही चौड़ी है। इसकी परिधि-घेरा एक करोड़ ८२ लाख ३० हजार दो सौ योजन से कुछ अधिक है। सिद्धशिला के सम प्रदेश (मध्य प्रदेश) में आठ योजन का क्षेत्र आठ योजन की मोटाई वाला है। इससे आगे यह हीन होती हुई अन्त में मक्षिका के पंख से भी अधिक तनुतर-सूक्ष्मतर तथा अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी मोटाई वाली रह जाती है। यह सिद्धशिला पृथ्वी बिलकुल सफेद है। शंखतल के समान विमल-निर्मल है। सौल्लिय (पुष्पविशेष) मृणाल—कमल-नाल, दकरज (पानी की इनाम), तुषार—ओस बिन्दु, गोक्षीर—गोदुग्ध, और मोतियों के हार के समान श्वेतवर्ण वाली



है। छत्र (छाता) को उलटा करके रखने पर जो उसका आकार बनता है वही आकार सिद्धशिला पृथ्वी का होता है। सिद्धशिला श्वेत स्वर्णमयी है, स्वच्छ है, श्लक्ष्ण-चिकनी है, मसृण है, इस्तीरी किए हुए कपड़े के समान कोमल है, धृष्ट—घिसे हुए पाषाण के समान स्पर्श वाली है, मृष्ट—चिकनी है, चमकदार है, नीरज—बूल रहित है, निष्पङ्क है।

सिद्धशिला के एक योजन ऊपर लोकान्त है। इस योजन के ऊपर के छठे भाग में सिद्ध भगवान अर्थात् मुक्त आत्माएँ विराजमान हैं। सुई की नोक पर अवस्थित अर्क की एक बिन्दु में हजारों औषधियों जैसे आपस में घुलमिलकर, बिना किसी रुकावट के रहती हैं, वैसे ही अनगिनत मुक्त आत्माएँ एक ही प्रदेश में बिना किसी व्यवधान के अवस्थित रहती हैं। इसलिए कहा जाता है इस तरह मुक्त आत्माएँ एक में अनेक और समान और समान स्वरूप की दृष्टि से अनेक में एक रूप से जिस स्थान पर विराजमान रहती हैं, जैन दृष्टि से वही स्थान मुक्तात्माओं का निवास स्थान माना जाता है।

सिद्धगति का स्वरूप

आवश्यकसूत्र के प्रणिपात सूत्र (नमोत्थुण) के “सिद्धमयलमरुअमणन्तमखयमव्वावाहमपुणरावित्ति-सिद्धि-गई-नामधेयं ठाणं” ये शब्द सिद्धगति मुक्तिपुरी के स्वरूप का बड़ी सुन्दरता से परिचय करा रहे हैं। १. शिव २. अचल ३. अरुज ४. अनन्त ५. अक्षय ६. अव्याबाध और ७. अपुनरावृत्ति। ये सात शब्द सिद्ध गति के विशेषण हैं। इन पदों की अर्थ विचारणा इस प्रकार है—

१. शिव—शिव कल्याण या सुख का नाम है। अथवा जो बाधा, पीड़ा और दुःख से रहित हो उसे शिव कहते हैं। सिद्धगति में केवल सुख ही सुख है वहाँ पर किसी भी प्रकार की पीड़ा या बाधा नहीं होती है। सिद्धगति में आनन्द का दिवाकर आनन्द का प्रकाश सदा बिखरता रहता है, दुःख-तम का तो वहाँ पर चिन्ह भी नहीं है, इसलिए सर्वथा सुख स्वरूप उस सिद्ध गति को शिव कहा जाता है।

२. अचल—चल अस्थिर को और अचल स्थिर को कहते हैं। चलन दो प्रकार का होता है। एक स्वाभाविक दूसरा प्रायोगिक। बिना किसी प्रेरणा से जो स्वभाव से ही चलन होता है वह स्वाभाविक और वायु आदि बाह्य निमित्तों से जो चाञ्चल्य उत्पन्न होता है वह प्रायोगिक चलन माना गया है। सिद्धगति में न तो स्वाभाविक चलन होता है और ना ही प्रायोगिक, इसीलिए उसे अचल माना जाता है।

३. अरुज—रोग रहित होने को अरुज कहते हैं। सिद्धगति में रहने वाले जीव शरीर रहित होने के कारण वात, पित्त और कफ जन्य शारीरिक रोगों से सर्वथा उन्मुक्त होते हैं। कर्मरहित होने से उनमें भावरोगरूप, राग-द्वेष, काम और क्रोधादि विकार भी नहीं होते। इसीलिए सिद्धगति अरुज कहलाती है।

४. अनन्त—अन्तरहित का नाम अनन्त है। सिद्धगति को प्राप्त करने की आदि तो है, परन्तु उसका अन्त नहीं होता अर्थात् सिद्धगति सदा विद्यमान रहती है, उसका कभी विनाश नहीं होता। इसलिए इसे अनन्त कहा गया है। अथवा सिद्धगति में रहने वाले जीवों का ज्ञान और दर्शन अनन्त होता है और मुक्त जीवों का ज्ञान अनन्त पदार्थों को जानता है, इसलिए भी सिद्धगति अनन्त मानी जाती है।

५. अक्षय—क्षयरहित का नाम अक्षय है। सिद्धगति अपने स्वरूप में सदा अवस्थित रहती है, उसका स्वरूप कभी क्षीण नहीं होता। अथवा सिद्धगति में विराजमान जीवों की ज्ञानादि आत्मविभूति में किसी भी प्रकार का ह्रास या क्षय नहीं आने पाता इसलिए सिद्धगति को अक्षय माना जाता है।

६. अव्याबाध—पीड़ारहित का नाम अव्याबाध है। सिद्धगति में मुक्तात्माओं को किसी भी प्रकार का कष्ट या शोक नहीं होता, और न ही वे जीव किसी को पीड़ा पहुँचाते हैं, अतएव सिद्धगति अव्याबाध कही जाती है।

७. अपुनरावृत्ति—पुनरावृत्ति—पुनरागमन से रहित को अपुनरावृत्ति कहते हैं। सिद्धगति में जो जीव जाते हैं, वे सदा वहीं रहते हैं, कभी वापिस नहीं आते, वहाँ पर अनन्त ज्ञान, दर्शन आदि आत्म-गुणों में रमण करते रहते हैं, इसीलिए सिद्धगति अपुनरावृत्ति मानी जाती है। जैनतर साहित्य में भी मुक्ति को अपुनरावृत्ति स्वीकार किया गया है। यहाँ पर कुछ एक उद्धरण प्रस्तुत करता हूँ—

स मोक्षोऽपुनर्भव

—भागवत

अर्थात्—जहाँ जाने के बाद फिर कभी जन्म नहीं होता, वह मोक्ष है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्ता, तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ८/८३

अर्थात्—जो अवस्था अव्यक्त एवं अक्षर है, उसे परमगति कहते हैं। जिस सनातन, अव्यक्त भाव को प्राप्त होकर मनुष्य वापिस संसार में नहीं आते वह मेरा परमधाम है।

न तद् भासते सूर्यो, न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते, तद्धाम परमं मम ॥ —भगवद्गीता १५/६

अर्थात्—स्वयं प्रकाशमान जिस पद को न तो सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा एवं न ही अग्नि प्रकाशित कर सकती है, तथा जिस पद को पाकर मनुष्य पुनः संसार में नहीं आते, वह मेरा परम धाम है।

सिद्ध के पर्यायवाचक शब्द

श्री औपपातिक सूत्र के सिद्धाधिकार में सिद्धगति में विराजमान जीवों के अनेकों पर्यायवाचक शब्द उपलब्ध होते हैं। जैसे (१) सिद्ध, (२) बुद्ध, (३) पारगत, (४) परम्परागत, (५) उन्मुक्त कर्मकवच, (६) अजर, (७) अमर, और (८) असंग। सिद्ध कृतकृत्य का नाम है या जिस जीव ने अपनी आत्म-साधना पूर्णरूपेण सिद्ध अर्थात् सम्पन्न करली है, वह सिद्ध है। केवलज्ञान के द्वारा विश्व को जानने वाला बुद्ध, संसार रूपी समुद्र से पार होने वाले पारगत, सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, पुनः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति तदनन्तर सम्यक्चारित्र्य की प्राप्ति इस परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करने वाले परम्परागत, सर्व प्रकार से कर्मरूप कवच से रहित उन्मुक्त कर्म कवच, जरा वृद्धावस्था आदि अवस्थाओं से रहित अजर, कमी समाप्त न होने वाले अमर, और सब प्रकार के क्लेशों से निर्लिप्त असंग कहलाते हैं।

सिद्धों का सुख-वैभव

सिद्धगति में विराजमान सिद्ध जीवों को जो आनन्दानुभूति होती है, औपपातिक सूत्र के उसका बड़ा सुन्दर विवरण मिलता है। वहाँ पर लिखा है कि मुक्तात्माओं को जो सुख प्राप्त है वह सुख न तो मनुष्य जगत के पास है और न ही उसकी उपलब्धि देवताओं को ही सकती है। देवताओं के त्रैकालिक सुख को एकत्रित करके यदि अनन्त गुणा किया जाए तो वह सुख मुक्तात्माओं के सुख के अनन्तवें भाग की भी समता-बराबरी नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त एक सिद्ध के त्रैकालिक सुख को एकत्रित करके यदि अनन्त विभागों में विभक्त कर दिया जाए तो उसका एक भाग भी समूचे आकाश में नहीं समा सकता।

मोक्ष मन्दिर की पगडण्डियाँ

मोक्ष का स्वरूप क्या है? यह ऊपर बताया जा चुका है। मोक्ष के महामन्दिर तक पहुँचने के लिए कुछ एक अङ्ग साधन बताए गए हैं जिनको हमने पगडण्डियों के रूप में स्वीकार किया है। वे पगडण्डियाँ १५ होती हैं। इनको प्राप्त करना तथा इन पर गतिशील होना बहुत मुश्किल होता है। इनकी संक्षिप्त अर्थ विचारणा इस प्रकार है—

१. **जङ्गमत्व**—जङ्गम दशा का नाम जङ्गमत्व है। जैन दृष्टि से जीव अनादिकाल से निगोद आदि अवस्थाओं में परिभ्रमण करता चला आ रहा है। अनन्त जीव ऐसे हैं जिन्होंने अभी तक स्थावर दशा छोड़ कर त्रस अवस्था भी प्राप्त नहीं की है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर न जा सकने वाले वनस्पतिकायिक आदि जीव स्थावर तथा इधर-उधर आने-जाने की क्षमता रखने वाले द्वीन्द्रिय आदि जीव त्रस कहलाते हैं। जीव की इस त्रस दशा का ही दूसरा नाम जङ्गम दशा है। इस तरह निगोद तथा पृथिवीकाय आदि अवस्थाओं को छोड़कर द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय आदि जीव जङ्गम कहे जाते हैं। जीव का जङ्गम दशा को प्राप्त करना साधारण बात नहीं है। अपेक्षाकृत बहुत थोड़े ऐसे जीव होते हैं जो स्थावरत्व से निकलकर त्रस दशा को प्राप्त करते हैं। मोक्ष के महामन्दिर की यह पहली पगडण्डी है। इसको पार किए बिना जीव मोक्षपुरी को अधिगत नहीं कर सकता।

२. **पञ्चेन्द्रियत्व**—१ स्पर्शन, २ रसन, ३ घ्राण, ४ चक्षु और ५ श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियों से युक्त जीव की दशा का नाम पञ्चेन्द्रियत्व है। जङ्गमदशा प्राप्त करके भी बहुत से जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय होकर ही रह जाते हैं। इन्हें निर्दोष पाँचों इन्द्रियों का प्राप्त करना कठिन होता है। जीव की पञ्चेन्द्रिय दशा मोक्षपुरी की दूसरी पगडण्डी है। मोक्षपुरी में पहुँचने के लिए जीव को यह दूसरी पगडण्डी पार करनी ही पड़ती है।

३. **मनुष्यत्व**—मनुष्य की अवस्था का नाम मनुष्यत्व है। पञ्चेन्द्रिय अवस्था प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी बहुत से जीव नरक और तिर्यञ्च गति में परिभ्रमण करते रहते हैं, इन्हें मनुष्य का जीवन बड़ी मुश्किल से प्राप्त होता है। मनुष्य जीवन मोक्ष के मन्दिर की तीसरी पगडण्डी है। जब तक जीव मनुष्य जीवन को प्राप्त न कर ले तब तक वह मुक्ति में नहीं जा सकता।



४. आर्यत्व—आर्य दशा का नाम आर्यत्व है। जिस देश में अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म की प्राप्ति हो उसे आर्यदेश कहते हैं। इसके विपरीत जहाँ धर्म की उपलब्धि न हो वह अनार्य देश कहलाता है। मनुष्य जीवन प्राप्त कर लेने पर भी जीव को आर्य देश की प्राप्ति बड़ी मुश्किल से होती है। यह मोक्ष मन्दिर की चौथी पगडण्डी है। मोक्ष गति को प्राप्त करने वाले जीव को आर्य देश में उत्पन्न होना पड़ता है। आर्य देश में उत्पन्न हुए बिना वह मोक्ष मन्दिर को सम्प्राप्त नहीं कर सकता।

५. उत्तम कुल—पिता के वंश को कुल कहते हैं। पितृपक्ष का उत्तम अर्थात् धार्मिक होना कुल की उत्तमता मानी जाती है, पितृक परम्परा से धार्मिक संस्कारों का प्राप्त न होना कुल की हीनता होती है। आर्य देश में उत्पन्न होकर भी बहुत से जीव नीच एवं हीन कुल में उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ पर उन्हें धर्माधन के समुचित अवसर तथा सामग्री प्राप्त नहीं होने पाती। अतः मोक्षाराधना को सफल बनाने के लिए जहाँ पर आर्य देश में जन्म लेना आवश्यक है, वहाँ पर उत्तम कुल में उत्पन्न होना भी बहुत जरूरी है। इसीलिए उत्तम कुल को मोक्ष के मन्दिर की पांचवीं पगडण्डी माना गया है।

६. उत्तम जाति—जननी के वंश को जाति कहा जाता है। मातृपक्ष का निष्कलक एवं आध्यात्मिक होना जाति की उत्तमता तथा उसका अप्रमाणिक, भ्रष्टाचारी, हिंसक, अधार्मिक एवं निन्दित होना जाति की हीनता समझी गई है। उत्तम कुल की प्राप्ति कर लेने पर भी बहुत से जाति की उपेक्षा से हीन होते। परिणामस्वरूप मातृ जीवन के बुरे संस्कारों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। अतः जाति की हीनता मोक्षाराधना में विघातक होती है। मोक्ष की उपलब्धि के लिए जाति का उत्तम होना भी अत्यावश्यक है। इसीलिए उत्तम जाति को मोक्ष मन्दिर की छठी पगडण्डी स्वीकार किया गया है।

७. रूप-समृद्धि—आंख और कान आदि पाँचों इन्द्रियों की निर्दोषता एवं परिपूर्णता का नाम रूप-समृद्धि है। पहली पगडण्डियों को पार कर लेने पर भी मोक्षसाधना को सम्पन्न करने के लिए श्रोत्रादि इन्द्रियों का निर्दोष एवं परिपूर्ण होना अत्यावश्यक है। इन्द्रियों की सदोषता एवं अपूर्णता रहने पर मोक्ष की आराधना भली-भाँति सम्पन्न नहीं होती। उदाहरणार्थ, श्रोत्रेन्द्रिय के हीन होने पर अध्यात्म-शास्त्रों के श्रवण का लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार चक्षु इन्द्रिय की सदोषता होने से जीव दिखाई नहीं देते। जीवों के अदृष्ट रहने पर उनका संरक्षण नहीं हो पाता, हाथ और पाँव आदि अवयवों की अपूर्णता एवं शरीर की अस्वस्थता के कारण धर्माधन से वञ्चित रहना पड़ता है। इसलिए पाँचों इन्द्रियों का परिपूर्ण एवं निर्दोष मिलना बहुत जरूरी है। तभी मोक्ष साधना सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकती है। मोक्ष मन्दिर की सातवीं पगडण्डी की यही उपयोगिता है।

८. बल—शक्ति का नाम है। मोक्ष साधना में शक्ति का भी अपना एक महत्वपूर्ण स्थान है। उपरोक्त समस्त साधन सामग्री के सम्प्राप्त हो जाने पर यदि साधक के शरीर में या श्रोत्र आदि इन्द्रियों में बल न हो, शक्ति का अभाव हो तो वह अहिंसा आदि धर्म साधन की आराधना नहीं कर सकता। सभी जानते हैं कि टाँगों में चलने की क्षमता न हो तो व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता। जैसे सांसारिक प्रवृत्तियों को सम्पन्न करने के लिए बल की आवश्यकता रहती है वैसे मोक्ष साधना में भी इसकी अत्यधिक उपयोगिता है। इसके अभाव में मोक्ष प्राप्ति का संकल्प कभी साकार रूप ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए बल को मोक्ष मन्दिर की आठवीं पगडण्डी स्वीकार किया गया है।

९. जीवित—आयु की दीर्घता का नाम दीर्घायु है। व्यवहार जगत में देखा जाता है, जो व्यक्ति जन्म लेने के साथ ही मृत्यु का ग्रास बन जाता है, वह धर्मसाधना क्या कर सकता है? वस्तुतः जीवन के अस्तित्व के साथ ही सब कार्य किए जा सकते हैं, अन्यथा नहीं। अतः मोक्ष साधना की आराधना के लिए भी दीर्घायु का होना अत्यावश्यक है। इसीलिए 'जीवित' को मोक्ष मन्दिर की नौवीं पगडण्डी माना गया है।

१०. विज्ञान—जीव और अजीव आदि पदार्थों का गम्भीर एवं विशिष्ट ज्ञान—विज्ञान कहलाता है। मोक्ष-साधना में विज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। ज्ञानविहीन जीवन नयनों का अस्तित्व रखने पर भी अन्धा होता है। भगवान महावीर के "पढमं ज्ञानं तओ बया" ये शब्द ज्ञान की महत्ता अभिव्यक्त कर रहे हैं। भगवद्गीता में—“नहि ज्ञानेन सदृशं, पश्चिन्नहिह विद्यते” यह कहकर वासुदेव कृष्ण ने पाण्डुपुत्र अर्जुन को ज्ञान की महिमा एवं गरिमा ही समझाई थी। इसीलिए जैनधर्म ने विज्ञान को मोक्ष मन्दिर की दसवीं पगडण्डी स्वीकार किया है। दीर्घ आयु प्राप्त

करके भी जिस व्यक्ति को सत्, असत्, हित, अहित, ज्ञेय और उपादेय का विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान नहीं है, वह व्यक्ति मोक्ष साधना क्या कर सकता है ? अतः मोक्ष साधना के लिए जीवादि तत्त्वों का विशिष्ट, विलक्षण एवं गम्भीर ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है ।

११. **सम्यक्त्व**—अनादि कालीन संसार प्रवाह में तरह-तरह के दुःखों का अनुभव करते-करते किसी योग्य आत्मा में ऐसी परिणाम शुद्धि हो जाती है जो इसके लिए अपूर्व ही होती है । इस परिणाम शुद्धि को अपूर्व-करण कहते हैं । इस अपूर्वकरण से राग-द्वेष की वह तीव्रता मिट जाती है जो तात्त्विक पक्षपात के लिए बाधक होती है । रागद्वेष की ऐसी तीव्रता मिटते ही आत्मा सत्य के लिए जागरूक हो जाता है । यह आध्यात्मिक जागरण ही सम्यक्त्व होता है । अथवा सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रतिपादित जीव और अजीव आदि पदार्थों पर सच्चा श्रद्धान करना, यथार्थ विश्वास रखना सम्यक्त्व कहलाता है । मोक्ष की साधना में सम्यक्त्व सर्वप्रथम स्थान रखता है । सम्यक्त्व मोक्ष साधना की आधारशिला है, इसके अभाव में मोक्ष साधना का रम्य एवं भव्य प्रासाद कभी खड़ा नहीं किया जा सकता । वृक्ष के जीवन में जो स्थान उसके मूल का होता है, वही स्थान मोक्ष साधना के महावृक्ष में सम्यक्त्व का समझना चाहिए । चेतना के अभाव में शरीर को जीवित रखने का संकल्प जैसे निमूल होता है, वैसे ही सम्यक्त्व के बिना मोक्ष साधना का सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है । इसीलिए सम्यक्त्व को मोक्ष के महामन्दिर की ग्यारहवीं पगडण्डी कहा गया है ।

१२. **शील सम्प्राप्ति**—शील चारित्र्य का नाम है, इसे सम्प्राप्त करना शील सम्प्राप्ति होती है । सामायिक आदि भेदों से चारित्र्य पञ्चविध होता है । मोक्षाराधना के लिए चारित्र्याराधना अत्यधिक आवश्यक है । बहुत से जीव सम्यक्त्व अधिगत कर लेने के अनन्तर भी चारित्र्य की आराधना से वञ्चित रहते हैं, अपने सच्चे विश्वास को साकार रूप नहीं दे पाते, परिणामस्वरूप वे मोक्ष के मन्दिर को उपलब्ध करने में असफल रहते हैं । इसीलिए शील सम्प्राप्ति को मोक्ष मन्दिर की बारहवीं पगडण्डी माना गया है ।

१. विज्ञान, २. सम्यक्त्व और ३. शील सम्प्राप्ति ये तीनों मोक्ष के प्रधान अङ्ग-साधन माने जाते हैं । तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य श्री उमास्वाति ने 'सम्यग्-दर्शन-ज्ञान चारित्र्याणि मोक्ष मार्गः' यह कहकर उक्त तीनों अङ्गों का मोक्ष का मार्ग-साधन स्वीकार किया है ।

१३. **क्षायिकभाव**—आत्मा की वह अवस्था जो कभी क्षीण न हो उसे क्षायिक भाव कहते हैं । क्षायिकभाव नौ प्रकार के होते हैं—

१. केवलज्ञान, २. केवलदर्शन, ३. दानलब्धि, ४. लाभलब्धि ५. भोग लब्धि ६. उपयोगलब्धि ७. वीर्यलब्धि, ८. सम्यक्त्वलब्धि, ९. चारित्र्यलब्धि । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय । इन चार घातीकर्मों के क्षीण होने पर ये नौ क्षायिक भाव प्राप्त होते हैं । ये सादि अनन्त हैं । मोक्ष सामना में क्षायिक भावों का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । क्षायिक भावों को अधिगत करने के अनन्तर ही साधक मोक्ष के महामन्दिर में पहुँच सकता है अन्यथा नहीं । इसीलिए क्षायिक भाव को मोक्ष मन्दिर की तेरहवीं पगडण्डी माना गया है ।

१४ **केवलज्ञान**—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय और मोहनीय इन घातीकर्मों का आत्यन्तिक विनाश हो जाने पर जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे केवलज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान विश्व के चराचर सभी प्राणियों तथा पदार्थों को हाथ पर रखे आँवले की भाँति जानने एवं समझने की क्षमता रखता है । इस ज्ञान को प्राप्त करके के अनन्तर जीव सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन जाता है । मोक्ष-साधना सम्पन्न करने के लिए इस ज्ञान का उपलब्ध करना आवश्यक है, इस ज्ञान की प्राप्ति किए बिना मुक्तिपुरी की उपलब्धि नहीं हो पाती । इसीलिए इसे मोक्ष मन्दिर की चौदहवीं पगडण्डी स्वीकार किया गया है । वैसे तो क्षायिक भावों में केवलज्ञान का संकलन होता ही है, परन्तु यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से जो इसका उल्लेख किया है, यह केवल इसकी प्रमुखता व्यक्त करने के लिए ही समझना चाहिए ।

१५ **मोक्ष**—सम्पूर्ण कर्मों का आत्यन्तिक विनाश ही मोक्ष है । जो जीव मोक्ष धाम प्राप्त करता है उसे ज्ञानावरणीय आदि अष्टविध कर्मों की आमूलचूल समाप्ति करनी पड़ती है । इसीलिए मोक्ष अर्थात् कर्मों के आत्यन्तिक विनाश को मोक्ष मन्दिर की पन्द्रहवीं पगडण्डी स्वीकार किया गया है ।

मुक्ति की साक्षिता तथा अनाक्षिता

मुक्ति सादि है या अनादि ? यह समझ लेना भी आवश्यक है । इस सम्बन्ध में जैनदर्शन अनेकान्तवाद की



माषा का आश्रय करता हुआ कहता है कि मुक्ति सादि भी है और अनादि भी । मुक्ति को प्राप्त करने वाले किसी एक जीव की अपेक्षा से वह सादि है और अनादि काल से जीव मुक्त होते चले आ रहे हैं । अतीतकाल में ऐसा कोई भी क्षण नहीं था जब कि मोक्ष-दशा का या मुक्त जीवों का अभाव हो । मुक्त जीवों का अस्तित्व सार्वकालिक है अतः इस अपेक्षा से मुक्ति अनादि मानी जाती है ।

उपसंहार—

जैनदर्शन ने विभिन्न दृष्टियों को आगे रखकर मुक्ति के स्वरूप का चिन्तन प्रस्तुत किया है । यदि प्रस्तुत में सभी का संकलन करने लगे तो इस निबन्ध में अधिक विस्तार होने का भय है । अतः अधिक न लिख कर संक्षेप में इतना ही निवेदन करना पर्याप्त होगा कि जैनदर्शन में मुक्तिधाम का अपना एक चिन्तन है । यह सादि भी है और अनादि भी । इसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, किसी विशेष जाति, देश या वर्ण का इस पर कोई अधिकार नहीं है, केवल साधक में अहिंसा, संयम और तप की पावन ज्योति का ज्योतिर्मान होना आवश्यक है । जैनदर्शन के मुक्तिधाम में जो जीव एक बार चला जाता है, फिर वह वहाँ से वापिस नहीं आता । अपने अनन्त आनन्दस्वरूप में ही सदा निमग्न रहता है । इसके अतिरिक्त मुक्तिधाम में विराजमान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, मुक्त जीव का इस जगत के निर्माण में, भाग्य विधान में तथा इसके संहार या सम्बर्धन में कोई हस्तक्षेप नहीं है ।

☆

सन्दर्भ स्थल—

- १ मेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन की है जिसमें एक हजार जितना भाग भूमि में है और ९९ हजार योजन प्रमाण भाग भूमि के ऊपर है ।
- २ औपपातिक सूत्रीय सिद्धाधिकार ।
- ३ विशेष अर्थ विचारणा के लिए देखो 'जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' का नौवाँ बोल ।

उपदेश गंगा

मानव का भव अति महँगा है, इसे न आलस में खोओ ।
सोओ नहीं मोहनिद्रा में, धर्म करो जागृत होओ ॥
पल का नहीं भरोसा, कल पर—बैठे क्यों विश्वास किये ।
जितने सांस लिए जाते वे, सांस गये या सांस लिये ? ॥
भोगों से ही नष्ट हो रही भोग शक्तियाँ इस तन की ।
सिवा भोग से क्या कुछ कीमत, रही नहीं इस जीवन की ॥
भोग रोग है, रोग भोग है, भोग सभी संयोग-वियोग ।
भोगों की इस परिभाषा को, समझा करते धार्मिक लोग ॥
शुद्धि विचारों की कर लो बस, तर लो इस भवसागर से ।
पता बादलों का क्या होता, गरजे कहाँ कहाँ बरसे ॥

श्री पुष्कर मुनि